ब्रह्मरूपी हवि ब्रह्मरूपी अग्नि में ब्रह्मरूपी यजमान के हाथों ब्रह्म को अर्पित की जाती है। ब्रह्मकर्म्मसमाधि पुरुष, वह पुरुष जिसके शरीर और चित्त की सारी चेष्टाएँ निरुद्ध होकर ब्रह्ममयी वृत्ति हो गयी है, ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। सब लोग इस यज्ञ को नहीं कर सकते पर जो लोग इतने ऊँचे नहीं उठ सकते वे अपने सारे जीवन को यज्ञमय बनाने का यत्न कर सकते हैं। कौटुम्बिक, सार्वजनिक, सामाजिक, राजनीतिक, जो काम सच्चे संकल्प से, धर्म्म को सामने रखते हुए, लोकहित के उद्देश्य से, श्रद्धापूर्वक किया जाय वही यज्ञ हो सकता है।

(घ) यज्ञबुद्धि से कर्म्मसम्पादन

मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक काम को यज्ञबुद्धि, निष्काम, कर्तव्य-बुद्धि, से करे। जिस वर्ण, जिस आश्रम, में हो, जो उसका व्यवसाय हो, अपने अन्तःकरण में भावना यही रखनी चाहिए कि मैं यज्ञानुष्ठान में प्रवृत्त हूँ। ऐसा करने से चित्त की शुद्धि होती है, काम कुशलता के साथ सम्पन्न होता है और अधिक से अधिक लोकसंग्रह, लोकहित, सिद्ध होता है। यज्ञ का अनुष्ठान केवल धन सम्पत्ति से नहीं होता। ऐसा यज्ञ, चाहे वह भौतिक होमयज्ञ हो या दानयज्ञ हो, तामस होता है और उसका फल भी अचिरस्थायी होता है। उससे अपने चित्त को शान्ति नहीं मिलती और दूसरों में द्वेष और ईर्ष्या की आग भड़कती है। सच्चे यज्ञा-

(ङ) यज्ञानुष्ठान में सत्य का स्थान

नुष्ठान में सबसे बड़ा स्थान सत्य का है। आरम्भ में ही याजक को कहना पड़ता है—अग्ने व्रतपते, व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयम्, तन्मे राध्यताम्, इद-महमनृतात्सत्यमुपैमि। हे व्रतों के स्वामी अग्नि, मैं व्रत का आचरण करूँगा, मुझको ऐसा बल दो कि उसे पूरा कर सकूँ और वह सम्पन्न

हो, यह मैं झूठ को छोड़कर सत्य को अंगीकार करता हूँ। यह केवल मुहँ से कहने की बात नहीं है। असत्य को स्थान देने से यज्ञ नष्ट हो जाता है। किसी प्रकार का यज्ञ हो, उसके अनुष्ठाता को दृढ़ता के साथ सत्य को पकड़ना होगा। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है—

ऋतं वाव दीक्षा सत्यं दीक्षा तस्मादीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्

इसका सायण ने जो भाष्य किया है उसका तात्पर्य्य यह है कि मन से यथावस्तु चिन्तन करना ऋत है और वाणी से यथावस्तु कहना सत्य है। दीक्षा—यज्ञानुष्ठान—उभयात्मक है। ऋत और सत्य से विकल होने से दीक्षा नष्ट हो जाती है। इसलिये दीक्षित को कदापि असत्यवादी न होना चाहिए। मेरी समझ में सायण ने यहाँ ऋत और सत्य का बहुत संकुचित अर्थ लिया है। ऋत उस सार्वभौम विधान, उस सर्वोपरि शक्ति को कहते हैं जो भौतिक विश्व का परिचालन कर रही है। सत्य उस अटल विधान को कहते हैं जिसका दूसरा नाम कर्म्म है, जिसके अनुसार राग और द्वेष, अपना और पराया का भाव, दुःख का हेतु होता है और लोकसंग्रह भाव, परोपकार बुद्धि, सुखावह होती है। जिस काम में ऋत और सत्य को जितना ही अधिक स्थान दिया जायगा वह काम उतना ही यज्ञात्मक होगा।

भौतिक यज्ञ में मुख्य वस्तु हवि है। जौ, चावल, फल, जो कुछ श्रद्धापूर्वक अर्पित किया जाय वह हवि है। देवगण उसे स्वीकार करके सहस्र-गुण बढ़ाकर लोकहित के लिए लौटा देते हैं।

(च) हवि

जैसा कि श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—**यज्ञाद्भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसम्भवः**। यज्ञ से मेघ होता है और मेघ से अन्न, प्राणियों की भोग-सामग्री, की उत्पत्ति होती है।

बिना बलि के यज्ञ पूरा नहीं होता। बकरे भैंसे को काट देना वास्तविक बलिदान नहीं है। ऐसा कर्म हिंसात्मक है और वेद की इस स्पष्ट

आज्ञा के विरुद्ध है कि 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि'—किसी प्राणी की हिंसा न करे। ऐसे कर्म्म से अवश्य पातक लगता है। जो प्राणी अभी अनुद्बुद्ध है, जो काम क्रोध का पुतला हो रहा है, उसको शास्त्र में पशु कहते है। इसीलिये परमात्मा का एक नाम पशुपति भी है, जब तक मनुष्य पशु है तब तक उसका यज्ञ में अधिकार नहीं है। उसकी सारी क्रियाएँ तामस और क्षुद्र स्वार्थ से प्रेरित होंगी। जो सन्मार्ग पर चलना चाहता है उसको इन दुर्बलताओं को दबाना होगा। इसी को पशु का आलभन, बलिदान, कहते हैं। जैसे बड़े यज्ञ का अनुष्ठान होगा वैसी ही बलि देनी होगी, उतने ही बड़े पशु का आलभन करना होगा। योगी को सदा के लिये हिंसा, असत्य, परिग्रह, स्तेय और मैथुन की प्रवृत्तियों को कुचल डालना पड़ता है। जब वह समाधि के अभ्यास से अस्मिता—मैं-पन के भाव—को जीत लेने में समर्थ होता है तब तंत्र की भाषा में कहा जाता है कि उसने महिष का आलभन किया, भैंसे की बलि दी। जो योगी नहीं है, वरन् लोक कल्याणकारी किसी दूसरे काम में लगता है, उसे भी अपने पशुपन को यथाशक्य मारना पड़ता है। प्रत्येक विद्याव्यसनी, प्रत्येक लोकसेवक, प्रत्येक उपासक का ऐसा अनुभव है। अहंता और ममता की दीवार हमको दूसरों के साथ तन्मयता प्राप्त करने से रोकती है। उसको गिराना ही सच्ची बलि है। इस बलि से अपने भीतर सोयी हुई शक्तियाँ जाग पड़ती हैं। प्रतिभा और वीर्य्य का उदय होता है और क्रियाफलाश्रयित्व की सिद्धि होती है अर्थात् क्रिया की सफलता अपने वश में आ जाती है।

बलितत्त्व

(क) हिंसात्मक बलि का निषेध

(ख) पशु शब्द का अर्थ

(ग) सच्ची पशुबलि

हमारी वासनाओं की तृप्ति में रागद्वेषात्मक कामों के करने में बुद्धि लगानी पड़ती है, वीर्य्य लगाना पड़ता है। अपनी शक्ति शतशत छिद्रों से

निकलकर बिखर जाती है। वासनाओं को दबाने से, रागद्वेष को जीत लेने से, यह शक्ति भीतर को लौट पड़ती है और उन अच्छे कामों में लगायी जा सकती है जिनका हम यज्ञ रूप से अनुष्ठान करते हैं। दूसरे शब्दों में, पशु के मरने पर उसकी शक्ति याजक को मिल जाती है। इसी बात को सप्तशती में यों कहा है कि देवी ने असुरों को मारकर पवित्र करके ऊँचे लोकों में भेज दिया।

(घ) सच्ची पशुबलि से लाभ

यह आत्मबलि, अपने सर्वप्रिय अपनेपन की बलि, सबके लिये सम्भव नहीं है। इस अपनेपन के मिट जाने पर अपना छोटा 'स्व' विश्व 'स्व' में लीन हो जाता है परन्तु सामान्य जीव इसके लिये तैयार नहीं है। वह अपने छोटे 'स्व' के खो जाने की कल्पना से ही सिहर उठता है। योगी बनकर रागद्वेषअस्मिता का सदा के लिये खो देना तो दूर रहा थोड़ी देर के लिये भी इनसे बचना कठिन होता है। साधारण मनुष्य सुख चाहता है, शक्ति चाहता है परन्तु उनका पूरा मूल्य नहीं देना चाहता। काम करना चाहता है परन्तु निष्काम भावना, यज्ञदृष्टि, नहीं उत्पन्न कर सकता। वह सरल उपाय ढूंढ़ता है। इसी आत्मवञ्चना के प्रभाव से श्रद्धा और तप का स्थान धन को दिया जाता है और वे सब पद्धतियाँ निकलती हैं जिनमें स्वयं व्रत लेने की जगह यह काम पैसा देकर दूसरों से कराया जाता है, दक्षिणा या दान के रूप में अपने अन्यायोपार्जित सम्पत्ति का एक क्षुद्र अंश देकर देवगण की आँखों में धूल झोंकने का प्रयत्न किया जाता है और एक या अनेक निरीह पशु, कभी कभी मनुष्य तक, काटे जाते हैं। यह मान लिया जाता है कि मंत्र के प्रभाव से बलिपशु में देवता प्रवेश करेंगी और उसके मरने पर यह शक्तिसञ्चय यजमान को प्राप्त होगा। जितने बड़े और जितने अधिक जीवों की हत्या की जाय उतना ही

(ङ) हिंसात्मक बलि-कर्म्म वास्तविक बलि-कर्म्म की विडंबना, अतः निषिद्ध

अधिक फल होगा, यह प्रथा वैदिक बलिविधान की विडम्बना है और चाहे जितनी श्रद्धा के साथ चाहे जितना धन व्यय किया जाय, याजक हत्या के पाप से बच नहीं सकता। जो मनुष्य अपनी स्वादलिप्सा की तुष्टि करने के लिये हत्या करता है और खाने के पहिले इस मांस को किसी देवदेवी को अर्पित करता है वह अपने अपराध की गुरुता को और बढ़ाता है।

यज्ञ और बलि के इस रहस्य को हृदयङ्गम कर लेने पर इस मंत्र का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

जब विराट् पुरुष के शरीर से पुराकल्प के सोये हुए जीवात्मा फिर जागे और अपने पहिले के संस्कारों के अनुसार कर्म्म और भोग में प्रवृत्त होने को प्रस्तुत हुए तो ब्रह्माण्ड के सञ्चालक देवगण ने भी यथाधिकार अपना काम सँभाला। देवगण देवताओं के, विश्वशक्तियों के, प्रतीक, पिण्डीभूत-रूप हैं। यों तो जीवों का अदृष्ट जगत् का मुख्य कारण है ही परन्तु देवगण जीवों के पथप्रदर्शक और प्राकृतिक शक्तियों के नियामक हैं। वे इस काम को अपने किसी स्वार्थ के लिये नहीं करते। उनके लिये विश्वसञ्चालन महायज्ञ है। देवगण सत्यप्रतिष्ठ होते हैं, केवल लोकहिताय इस यज्ञभार को ग्रहण करते हैं। अभी भूर्लोक और भुवर्लोक नहीं बने थे। उसी समय देवों ने अपने भावी महायज्ञ के सुसम्पन्न होने के लिये विघ्नों की शान्ति के उद्देश्य से एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। उस यज्ञ में उन्होंने विराट् पुरुष की बलि दी। वस्तुतः बलि तो अपने कामक्रोधादि की देनी चाहिए। परन्तु यह बलि तो वह दे चुके थे। पुराकल्प के तपस्वी इन्द्रियजित थे, तभी दायित्वपूर्ण देवपद पर आये थे। यहाँ साधारण यज्ञों का, जिनमें किसी पशु का आलभन किया जाता है, रूपक बाँधा गया है। देवों ने पुरुष की बलि दी। इसका परिणाम यह हुआ कि जो शक्तियाँ उस पशु में उस समय एकत्र थीं वे

विश्व प्रपञ्च के पहिले देवगण का यज्ञानुष्ठान